गुणान् पशुपथा दण्डाः दातव्याः

लिपि तथा अभिलेख

लिपि

लिपि का प्राचीनतम निर्देश पाणिनीयकृत 'अष्टाध्यायी' में प्राप्त होता है। इसमें लिपि के लिए 'लिपि' और लेखक के लिए 'लिपिकर' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें यवनों की लिपि के लिए यवनानी शब्द

का प्रयोग मिलता है। लिपि शब्द का प्रयोग कौटिल्यीय अर्थशास्त्र (115/2) में भी है। अशोक के अभिलेखों में लिपि, लिवि और दिपि शब्द मिलते हैं। ये अभिलेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखे गए हैं, परन्तु यहाँ लिपियों के नामों का कोई संकेत नहीं है। पण्णावणा-सूत्र और समवायाङ्ग-सूत्र नामक जैन ग्रन्थों में 18 लिपियों की सूची दी गई है। भगवती-सूत्र में ब्राह्मीलिपि को नमस्कार किया गया है (नमो बंभीये लिविये)। बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में 64 लिपियों की एक सूची दी गई है। लिपियों को देशी, विदेशी, प्रादेशिक, जातीय, साम्प्रदायिक आदि 15 वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय अभिलेखों में प्रयुक्त लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी ही हैं। सन् 1921 में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से एक तीसरी लिपि भी प्रकाश में आई है, जो सिन्धु-घाटी की लिपि के नाम से प्रसिद्ध हो गई है।

ब्राह्मी-लिपि को पढ़ने का इतिहास

भारतवासी अपने देश की पुरानी लिपियों का पढ़ना पहले ही भूल चुके थे। संस्कृत और प्राकृत के कुछ विद्वान् बड़े प्रयास के बाद ईसा की सातवीं और आठवीं शती की हस्तलिखित प्रतियों को पढ़ पाए थे, इससे पूर्व की नहीं। गुप्त और ब्राह्मी-लिपि भारतीयों के लिए दुर्बोध थी। यह अवस्था बहुत पहले चौदहवीं शताब्दी में हो गई थी। जब फिरोजशाह तुगलक ने टोपरा और मेरठ के अशोक स्तंभों को दिल्ली मँगवाया, तब उसने अनेक संस्कृत-विद्वानों को उन स्तंभों पर उत्कीर्ण लेख पढ़ने के लिए आमंत्रित किया तो वे उन अभिलेखों की लिपि को स्पष्ट न कर सके। महान् मुगल-सम्राट् अकबर को भी इन स्तंभों पर के लेख के विषय में जिज्ञासा तो थी, किंतु सोलहवीं शताब्दी में भी इस पुरानी लिपि को पढ़ने का गंभीर प्रसास नहीं किया गया। लोग इस काल्पनिक कथा से ही संतुष्ट थे कि ये स्तंभ भीम (पाँच पांडवों में एक) के दंड हैं तथा श्री कृष्ण-द्वारा पैशची भाषा में पांडवों को दिए गए उपदेश इस लिपि में अंकित हैं। भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के विषय में यह अज्ञान बारहवीं शताब्दी की अंतिम दशाब्दी से देश में फैली हुई अव्यवस्था और उसके परिणाम-स्वरूप राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन के विशृंखलित हो जाने के कारण था। 15 जनवरी, 1784 ई. से जब बंगाल की रॉयल एसियाटिक सोसायटी की नींव पड़ी, भारत ने अपनी बौद्धिक जिज्ञासा एवं स्थिरता का का पुनर्लाभ आरंभ किया। इससे विद्वानों को भारत के अतीत के सर्वांगीण अध्ययन में अपने को लगा देने की प्रेरणा मिली। लिपि-विज्ञान और अभिलेख-विद्या ने भारतीय विज्ञान (इंडोलॉजी) के विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया।

1. परवर्ती ब्राह्मी-लिपि का स्पष्टीकरण

बंगाल की रॉयल एसियाटिक सोसायटी की स्थापना के शीघ्र बाद ब्राह्मी-अभिलेखों की खोज और पढ़ाई प्रारम्भ हुई। 1785 ई. में चार्ल्स बिल्किन्स ने बंगाल के दीनाजपुर जिले से प्राप्त पाल-राजा नारायण पाल के बोदल स्तंभ-अभिलेख को पढ़ा। ब्राह्मी-लिपि के पढ़ने का दूसरा प्रयास भी उसी वर्ष किया गया। पंडित राधाकान्त शर्मा ने चाहमान-राजा वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के तोपरा-दिल्ली-स्तंभ-अभिलेख को पढ़ा, जिसकी तिथि वि. सं. 1220 है। इन अभिलेखों को सरलता से पढ़ा जा सकता था, क्योंकि वे अति समीप की तिथियों के थे। उसी वर्ष जे.एच्. हरिंग्टन ने मौखरी राजा अन्नतवर्मन् के नागार्जुनी और

बराबर गुहा अभिलेखों का पता लगाया। इन अभिलेखों की लिपि पाल और चौहान-लिपियों से अधिक प्राचीन होने के कारण पढ़ने में कठिन प्रतीत हुई और हेरिंग्टन उन्हें स्पष्ट नहीं कर सके। किंतु चार्ल्स विल्किन्स ने 1785 और 1789 ई. के बीच इन अभिलेखों पर काम किया और इन अभिलेखों की सहायता से वे गुप्त-लिपि के प्रायः आधे अक्षरों को पढ़ने में समर्थ हो गए। महान् ऐतिहासिक कर्नल जेम्स टॉड ने 1818 और 1823 ई. के बीच राजस्थान, मध्य भारत तथा गुजरात से प्राप्त अभिलेखों को संगृहीत किया तथा यति ज्ञानचन्द्र की सहायता से इनमें से कुछ अभिलेखों को पढ़ने में आंशिक सफलता प्राप्त की। ये अभिलेख ईसा की सातवीं और पंद्रहवीं शताब्दी के बीच के थे।

परवर्ती ब्राह्मी-लिपि के स्पष्टीकरण का दूसरा सीमा-चिह्न तब बना, जब 1828 ई. में बैबिंग्टन ने मामल्लपुरम् से प्राप्त संस्कृत और तमिल-अभिलेखों के आधार पर वर्णों की एक तालिका तैयार की।

गुप्त-लिपि का ठीक स्पष्टीकरण 1834 ई. में प्रारम्भ हुआ जब कप्तान ट्रायर ने समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति का एक अंश पढ़ा। डॉ. मिल प्रयाग-स्तंभ-अभिलेख को पढ़ने में और अधिक सफल हुए तथा उन्होंने 1837 में स्कंदगुप्त के भितरी स्तंभ-अभिलेख को पूर्णतः पढ़ डाला। लगभग उसी समय डब्ल्यू. एच्. बॉथन ने गुजरात से प्राप्त अनेक ताम्रपत्रों को, जिनका संबंध बलभीवंश के राजाओं से था, पढ़ा। जेम्स प्रिंसेप का पठन अधिक तात्त्विक और सफल रहा। उन्होंने गुप्तकाल के दिल्ली, कहौम, एरण, साँची, अमरावती तथा गिरनार-अभिलेखों को स्पष्ट किया। इससे गुप्त-लिपि के पठन का कार्य पूर्ण हुआ और गुप्त अक्षरों की एक पूरी सूची तैयार कर ली गई।

2. प्राचीन ब्राह्मी-लिपि का स्पष्टीकरण

एलोरा गुहा के ब्राह्मी-अभिलेखों ने पहले पहल विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। 1795 में सर चार्ल्स मेलेट ने इन अभिलेखों के प्रतिचित्रण (स्टैम्पेज) तैयार किए और विलियम जोन्स के पास स्पष्टीकरण के लिए भेजे। उन्होंने उन्हें पढ़ने के लिए विलफोर्ड के पास भेज दिया। विलफोर्ड उनके प्रति कोई न्याय नहीं कर सके। एक संस्कृत-पंडित के मिथ्या पथ-प्रदर्शन में उन्होंने इन अभिलेखों को अशुद्ध पढ़ा और अपने अशुद्ध पाठ के साथ उन्हें सर विलियम जोन्स के पास वापस भेज दिया। कुछ वर्ष वे सर विलियम के पास पड़े रहे और बाद में पाया गया कि पाठ काल्पनिक है।

प्रारंभिक ब्राह्मी के इस पढ़ने के प्रथम निष्फल प्रयास के बाद चार्ल्स लैसेन ने एक और प्रयास किया। उन्होंने 1826 में हिन्द-बैक्ट्रियन राजा अगाथोक्लीज की मुद्राओं पर ही ब्राह्मी प्रशस्ति पढ़ी, किंतु प्रशस्ति छोटी होने के कारण थोड़े ब्राह्मी-अक्षर ही स्पष्ट हुए। ब्राह्मी-लिपि के पूर्णतर स्पष्टीकरण का श्रेय जेम्स प्रिंसेप को प्राप्त हुआ। 1834-35 ई. में उन्हें प्रयाग के रधिया और मथिया स्तंभ- अभिलेखों के प्रति-चित्रण (स्टैम्पेज) प्राप्त हुए और उनको उन्होंने दिल्ली-स्तंभ-अभिलेखों से मिलाया। उन्हें मालूम हुआ कि चारों अभिलेख एक ही हैं। यह उनके लिए अति संतोषप्रद था। इस परिणाम से प्रोत्साहित होकर उन्होंने इन अभिलेखों के वर्णों का विश्लेषण किया। उन्हें विदित हुआ कि मात्राओं के लगाने के वही सिद्धान्त प्रारंभिक ब्राह्मी में विद्यमान् थे, जो गुप्त-अभिलेखों में थे। इन अभिलेखों के अनवरत अध्ययन ने प्रारंभिक ब्राह्मी और गुप्तलिपियों की एकता और अविच्छिन्नता की स्थापना कर दी। पहले कुछ विद्वानों को प्रारंभिक ब्राह्मी-लिपि में ग्रीक-वर्णमाला के किसी रूप का भ्रम हुआ था; प्रिंसेप के प्रयासों ने इस भ्रम का निराकरण

किया। प्रिंसेप ने प्रथम स्वरों और अंतःस्थ-चिह्नों को अलग किया और फिर व्यंजनों को। उन्होंने गुप्त वर्णों से उनका मिलान किया और उनके ध्वनिमानों का निश्चय करके उनका वर्गीकरण किया। इस प्रकार वे प्रारंभिक ब्राह्मी-अक्षरों में अधिकतर को स्पष्ट करने में समर्थ हुए। उनके द्वारा बनाई गई चिह्नों की सूची, 'उ' और 'ओ' के चिह्नों को छोड़कर, बाद में बिल्कुल शुद्ध पाई गई। प्रायः उसी समय फादर जेम्स स्टीवेन्सन ने ब्राह्मी-वर्णों के स्पटीकरण के कार्य में अपने को लगाया। उन्होंने 'क', 'ज', 'प' और 'ब' वर्णों को पहचाना। इन अक्षरों की सहायता से उन्होंने अभिलेखों को पढ़ने का प्रयास किया, किंतु उनके मार्ग में दो रोड़े थे–प्रथम उनका ब्राह्मी-वर्णमाला का ज्ञान अधूरा था; दूसरे उन्हें विश्वास था कि अभिलेखों की भाषा संस्कृत है। इसलिए वे इस कार्य में आगे न बढ़ सके।

1837 ई. में जेम्स प्रिंसेप ने प्रारंभिक ब्राह्मी को पढ़ने को दूसरा प्रयास किया। उन्होंने साँची के वेदिका एवं द्वार-स्तंभों के छोटे-छोटे लेखों के प्रतिचित्रणों (स्टैम्पेज) को एकत्र कर उनका मिलान किया। सभी लेखों के अंत के दो वर्णों को उन्होंने समान पाया। अंत के उन दो समान वर्णों से पहले 'स' था (जो संस्कृत 'स्य' का प्राकृत रूप है, अर्थ 'का')। आसानी से वे कल्पना कर सकते थे कि 'स' के पहले का शब्द व्यक्ति नाम होगा तथा इसके बाद का शब्द 'दान' या 'समर्पण' का समानार्थी होगा। अंतिम दो वर्णों में से प्रथम में 'आ' की मात्रा थी और दूसरे में अनुस्वार का चिह्न था। अब शब्द को आसानी से 'दानम्' पढ़ा जा सकता था। इस प्रकार दो ब्राह्मी-वर्ण स्पष्ट रूप से पहचान में आ गए। उसी समय यह भी स्थापित हो गया कि लेख की भाषा प्राकृत है, संस्कृत नहीं। इसके बाद वर्णमाला के छह अज्ञात चिह्न प्राप्त किए गए, जिनमें इ, उ, श, स और ळ बूलर के द्वितीय पट्ट में प्रकाशित किए गए। ग्रियर्सन को गया में 'ण' वर्ण प्राप्त हुआ, जो बूलर की–'इंडियन स्टडीज' में आया है। ईसा-पूर्व की तीसरी शती में 'औ' के चिह्न की विद्यमानता अशोक के तक्षकों की गया-वर्णमाला से सिद्ध हो जाती है। 'ऊ' और 'श' की पहचान (कनिंघम : इंस्क्रिप्शंस ऑफ अशोक) पहले कनिंघम ने की। 'ष' का एक रूप सेनार्ट-द्वारा पढ़ा गया तथा दूसरा हार्नले-द्वारा। बूलर ने साँची के दान-अभिलेखों में 'ळ' का पता लगाया। ब्राह्मी-वर्णों की पूर्ण एवं वैज्ञानिक सूची बनाने का श्रेय निश्चय ही बूलर को प्राप्त है।

ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति के सिद्धान्त

लेखन के लिए लिपि या लिवि शब्द का प्राचीनतम निर्देश 800 ई.पू. के पाणिनि-प्रणीत व्याकरण-ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में हुआ है–(3/2/2/1), किंतु देश में कितने प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं तथा उनके क्या नाम थे, इन प्रश्नों के उत्तर के लिए 'अष्टाध्यायी' में कुछ भी नहीं है। पाणिनि केवल एक यवनानी लिपि का निर्देश करते हैं, जिसका अस्तित्व उन्हें विदित था, अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित भारतीय लिपियों के निर्देश का उन्हें अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में (2/1/2) भी राजकुमारों को पढ़ाए जानेवाले एक विषय के रूप में लिपि का निर्देश है; किंतु इससे अशोक के अभिलेखों में 'लिवि' और 'लिपि' शब्द आए हैं और सभी का अभिप्राय लेखन से है। अशोक के समय में कम-से-कम दो लिपियाँ–ब्राह्मी और खरोष्ठी–प्रचलित थीं, किंतु अशोक के अभिलेखों में कहीं भी उनके नाम का निर्देश नहीं है।

ब्राह्मी-लिपि का आविष्कार भारतीय आर्यों द्वारा या वेद की सुरक्षा के लिए हुआ था। मुख्यत: ब्राह्मण इसका प्रयोग करते थे, जिनका काम था प्रतिलिपि करके और अध्यापन-द्वारा वैदिक साहित्य को स्थायी बनाना तथा अगली पीढ़ी को हस्तांतरित कर देना। बाद की शताब्दियों के जैन और बौद्ध लेखकों ने इस सत्य को स्वीकार किया। वैदिक साहित्य और ब्राह्मणों के कटु आलोचक होने के कारण उन्हें पक्षपात का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। आधुनिक लेखक भी, जो किसी सेमेटिक स्रोत से ब्राह्मी-लिपि का उद्गम बताते हैं, इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्राचीन भारतीय ब्राह्मणों ने इस लिपि को पश्चिमी एसिया से व्यापार के माध्यम से स्वीकार किया तथा ऐसी पूर्णता प्रदान की कि इसको पहचाना भी नहीं जा सकता। इस संबंध में यह प्रस्तावित किया जा सकता है कि भारत में लेखन के आविष्कार की मौलिक प्रेरणा सुमेर और बेबीलोन की भाँति व्यापारिक नहीं, अपितु धार्मिक थी और यह नितांत असंभव है कि आर्य-संस्कृति की क्रीड़ा-भूमि उत्तरी भारत के ब्राह्मणों ने अपनी पवित्र ब्राह्मी-लिपि के सूत्र को सिंधु और सौराष्ट्र के बंदरगाहों से ग्रहण किया हो। ब्राह्मी-लिपि के मूल की समस्या के समाधान के मार्ग में आधुनिक विद्वानों के सामने सबसे बड़ी कठिनाई ई.पू. की पाँचवीं शताब्दी से पहले के ब्राह्मी-लेख का अभाव है, फलत: ब्राह्मी-लिपि के मूल के लिए अनेक मतों की स्थापना की गई है। मुख्यत: इन मतों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वे मत, जो ब्राह्मी-लिपि के मूल को स्वदेशी मानते हैं तथा दूसरे वे जो ब्राह्मी का मूल विदेशी स्रोत में खोजते हैं। अधोलिखित पंक्तियों में संक्षेप में इन मतों को उपस्थित करने तथा उनके विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

1. स्वदेशी उत्पत्ति के पोषक सिद्धान्त

1. द्रविड़ मूल—एडवर्ड टामस तथा उनके मत के अन्य विद्वानों की ऐसी मान्यता थी कि ब्राह्मी-वर्णों के आविष्कार का श्रेय द्रविड़ लोगों को है, जिनका अनुकरण आर्यों ने किया। इस मत का आधार अनुमानत: यह मालूम पड़ता है कि आर्यों के तथाकथित भारतीय आक्रमण के पूर्व द्रविड़ों का संपूर्ण भूमि पर अधिकार था और सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक उन्नत होने के कारण उन्होंने लेखन-कला का आविष्कार किया। यह कल्पना मूलत: असत्य है, क्योंकि द्रविड़ लोगों की मूलभूमि दक्षिण में थी तथा आर्यों का मूल अभिजन उत्तरी भारत था।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि लेखन के प्राचीनतम उदाहरण आर्यों के मूल देश उत्तरी भारत में पाए गए हैं, द्रविड़ों की निवास-भूमि दक्षिण में नहीं। इसके अतिरिक्त द्रविड़-भाषाओं की विशुद्धतम वर्तमान प्रतिनिधि तमिल में वर्ग के केवल प्रथम और पंचम वर्ण पाए जाते हैं, जबकि ब्राह्मी में वर्ग के पाँचों वर्ण हैं। ध्वनि की दृष्टि से तमिल के अल्पसंख्यक वर्ण संपन्न ब्राह्मी-वर्णों से गृहीत प्रतीत होते हैं।

2. आर्य या वैदिक मूल—जनरल कनिंघम, डाउसन, लेसेन प्रभृति विद्वानों की मान्यता थी कि आर्य पुरोहितों ने देश्य भारतीय चित्रलिपि से ही ब्राह्मी-अक्षरों का विकास किया। बूलर निम्नलिखित शब्दों में कनिंघम की आलोचना करते हैं, 'कनिंघम का विचार, जिसका समर्थन पहले कुछ विद्वानों ने किया था, भारतीय चित्रलिपि की पूर्व-कल्पना करता है, किंतु इसका अभी तक कुछ भी पता नहीं लगा है।' सिंधुघाटी की लिपि के प्रकाश में आने से, जो चित्रात्मक है, बूलर-द्वारा प्रस्तुत आपत्ति को नितांत निर्बल बना दिया है। जब-तक सिंधुघाटी की लिपि

का ध्वनिशास्त्रीय मूल्यांकन नहीं होता, तब-तक ब्राह्मी-अक्षरों पर इसके प्रभाव के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किंतु यह संभव है कि सिंधुघाटी की लिपि के कुछ चिह्न ब्राह्मी के कुछ वर्णों से निकले हों।

पं. शामशास्त्री-द्वारा प्रतिपादित मत के अनुसार, ब्राह्मी-वर्ण देवों को व्यक्त करनेवाले चिह्नों और प्रतीकों से, जिनकी संज्ञा देवनगर थी, निकले हैं। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी निर्बलता इस बात में है कि शामशास्त्री-द्वारा उपस्थित किए गए सभी प्रमाण परवर्ती तांत्रिक ग्रंथों के हैं। तथापि पूर्ण रूप से इस मत को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता और यह ब्राह्मी-वर्णों के चित्रलिपिपरक मूल के अति समीप है। लिपि का 'ब्राह्मी' नाम भी कुछ अंशों में इस मत की पुष्टि करता है।

डॉ. डेविड डिरिंजर ने ब्राह्मी-लिपि के स्वदेशी मूल के समर्थकों को निम्नलिखित तथ्यों के विषय में चेतावनी दी है–

1. किसी देश में दो आक्रमिक लिपियों का अस्तित्व यह नहीं सिद्ध करता कि दूसरी पहली पर आधारित है; उदाहरण के लिए, क्रीट में प्रयुक्त होनेवाले प्राचीन ग्रीक वर्ण प्राचीन क्रीटन या मिनोअन लिपि से नहीं निकले हैं।
2. यदि सिंधुघाटी के चिह्नों तथा ब्राह्मी-वर्णों में आकार-साम्य सिद्ध भी हो जाए तो भी ब्राह्मी-लिपि के सिंधुघाटी की लिपि से निकलने का उस समय तक कोई प्रमाण नहीं है, जब-तक यह न सिद्ध हो जाए कि दोनों लिपियों के समान चिह्नों द्वारा व्यक्त ध्वनि भी समान है।
3. सिंधुघाटी की लिपि संभवतः सांक्रांतिक पद्धति या मिश्रित अक्षर-भावपरक (सिलेबिक-पाइडिओग्राफिक) लिपि थी, जब कि ब्राह्मी अर्धाक्षरी थी। जहाँ तक हमें ज्ञात है, कोई भी अक्षर-भावपरक लिपि किसी वर्णात्मक लिपि के प्रभाव के बिना स्वयं वर्णात्मक नहीं बनी है। कभी किसी गंभीर विद्वान् ने यह प्रदर्शित करने का प्रयास नहीं किया है कि सिंधुघाटी की भावपरक लिपि ब्राह्मी की अर्धवर्णात्मक लिखावट में कैसे विकसित हो सकी।
4. वृहत् वैदिक वाङ्मय में प्राचीन आर्यावर्त में लिखावट के अस्तित्व का कोई निर्देश नहीं है इसका कहीं भी प्रसंग नहीं आता। प्राचीन भारतीय देवताओं में 'लिपि' का कोई देवता नहीं था, यद्यपि ज्ञान, विद्या और वाक् की देवी सरस्वती अवश्य थी।
5. केवल बौद्ध साहित्य प्राचीन समय में लिखावट का स्पष्ट निर्देश करता है।
6. केवल अभिलेखों के आधार पर यह माना जाता है कि छठी शती ई.पू. में ब्राह्मी-लिपि विद्यमान् थी।
7. विषय के महान् पंडितों के अनुसार, 800-600 ई.पू. का काल भारत में व्यापारिक जीवन में विशिष्ट उन्नति प्रदर्शित करता है-इसी काल में भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट से-बेबीलोन के साथ नौ-व्यापार का विकास हुआ है। प्रायः यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि व्यापारिक विकास ने लेखन के ज्ञान के प्रसार में सहायता की।
8. भारत के प्राचीन आर्य इतिहास के विषय में अत्यल्प ज्ञान प्राप्त है। श्री तिलक वैदिक साहित्य की प्राचीनतम ऋचाओं का समय

लगभग 7000 ई.पू. ठहराते हैं तथा श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित, कुछ ब्राह्मणों को 3800 ई.पू. का बताते हैं; इस प्रकार के निराधार काल्पनिक मतों को गंभीरतापूर्वक स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारत में आर्यों का प्रवेश अब ईसा-पूर्व की दूसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्ध में ठहराया जाता है तथा वही काल संपूर्ण वैदिक साहित्य की रचना का काल माना जाता है, जो ईसा-पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के प्रारंभिक भाग तक जारी रहता है।

9. ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तरी भारत में एक विशेष धार्मिक क्रांति हुई, जिसने भारतीय इतिहास की गतिविधि को काफी प्रभावित किया। इसमें संदेह नहीं कि जहाँ लिपि के ज्ञान ने जैन और बौद्ध धर्मों के प्रसार में सहायता की, वहाँ इन दोनों धर्मों ने, विशेषकर बौद्धधर्म ने लिपि के ज्ञान के प्रसार में भी महान् योगदान दिया।
10. संक्षेपत: प्रमाण के विभिन्न सूत्र प्राचीन भारत में लिपि के प्रवेश के लिए ई.पू. आठवीं और छठी शताब्दियों के बीच का काल सूचित करते हैं।

डॉ. डेबिड डिरिंजर के तर्कों के सम्यक् परीक्षण की आवश्यकता है। इनमें से प्रथम दो नितांत असंगत हैं। किसी देश में दो आक्रमिक लिपियों की विद्यमान्ता तब-तक परवर्ती लिपि के पूर्ववर्ती लिपि से निकलने की पुष्टि करेगी, जब-तक इसके विरुद्ध सिद्ध न कर दिया जाए। जहाँ तक तृतीय युक्ति का संबंध है, अभी यह सिद्ध करना शेष है कि सिंधुघाटी की लिपि में ध्वनि-तत्त्व का अभाव है। चतुर्थ धारणा पूर्णतया मिथ्या है तथा वैदिक साहित्य के अपूर्ण ज्ञान पर आधारित है। यह कथन कि 'वैदिक देवमंडल में लिपि का देवता नहीं है, किंतु ज्ञान, विद्या तथा वाक् की देवी सरस्वती है' ठीक नहीं है। हिंदु-देवमंडल में सरस्वती तथा ब्रह्मा दोनों ही हाथ में पुस्तक लिए हुए प्रदर्शित किए गए हैं। पाँचवीं युक्ति के अन्यथात्व की सिद्धि के लिए बौद्ध साहित्य की पृष्ठभूमि के अनुशीलन तथा वेदांगों और वैदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। छठी युक्ति केवल स्मारक अवशेषों का निर्देश करती है, जिससे नाशवान् सामग्री पर लेखन का खंडन नहीं हो जाता। भारत तथा पश्चिम के बीच व्यापारिक संबंध विषयक सातवीं युक्ति से भारत का ऋणी होना सिद्ध नहीं होता; वस्तुस्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है। आठवीं युक्ति में यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है कि पश्चिमी एसिया की सभ्यता की अपेक्षा भारत की सभ्यता कम पुरानी है। श्री तिलक तथा श्री शंकर के वैदिक वाङ्मय के काल-विषयक सिद्धान्त पश्चिमी विद्वानों को कोरी कल्पना प्रतीत हो सकते हैं, किंतु बूलर और विण्टरनित्स-जैसे गंभीर पाश्चात्य विद्वानों ने यह दिखा दिया है कि भारत में आर्य सभ्यता का प्रारम्भ ईसा-पूर्व चतुर्थ सहस्त्राब्दी में रखा जा सकता है। जहाँ तक नवम युक्ति का संबंध है, इसमें किंचित् संदेह नहीं है कि जैन और बौद्ध धर्मों ने प्राकृतों को तथा उनके साथ लेखन को लोकप्रिय बनाया, किंतु दोनों ही धर्म वैदिक या संस्कृत-भाषा के लिए लेखन की पूर्व-कल्पना करते हैं। वास्तव में बुद्ध ने अपने शिष्यों को छन्दों (वैदिक या लौकिक संस्कृत-भाषा) में अपने संवाद लिखने का निषेध किया था। दशम युक्ति बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह इस कल्पना पर आधारित है कि लेखन का मूल आर्येतर है आर्य भारत में बाहर से आए थे। अब तक कोई ऐसी तथ्यात्मक बात नहीं कही गई, जो पहले से विद्यमान्

किसी देश्य लेखन-पद्धति से ब्राह्मी के निकलने की सम्भावना का निषेध कर सके।

2. विदेशी उत्पत्ति के पोषक सिद्धान्त

ब्राह्मी-लिपि के विदेशी मूल के समर्थक मतों को दो उपभागों में विभाजित किया जा सकता है-(क) कतिपय मत यह प्रतिपादित करते हैं कि ब्राह्मी यूनानी वर्णों से निकली है तथा (ख) अधिकतर की ऐसी मान्यता है कि ब्राह्मी का उद्गम किसी दो या अधिक सेमेटिक वर्ण-मालाओं के समन्वय से हुआ है।

1. **यूनानी उत्पत्ति**-पूर्ववर्ती यूरोपीय विद्वान् भारत की किसी श्रेष्ठ तथा महान् वस्तु का उद्भव यूनान से बताने के आदी थे। ओटफ्रीड म्वेलर, जेम्स प्रिन्सेप, रावेल डी रोशे, स्माइल सेनार्ट, गोब्लेत डि-अल्वील्ल, जोजेफहालवी, विल्सन इत्यादि का यह मत था कि ब्राह्मी यूनानी वर्णों से निकली है। बूलर के शब्दों में 'इस पूर्व-कल्पित असंभव मत का सहज ही निराकरण किया जा सकता है, क्योंकि ऊपर विवेचित साहित्यिक और लिपिशास्त्रीय साक्ष्यों से मेल नहीं खाता। इन प्रमाणों से यह संभव ही नहीं, सत्य प्रतीत होता है कि मौर्यकाल के अनेक शताब्दी पूर्व ब्राह्मी का प्रयोग होता था तथा प्राचीनतम उपलब्ध भारतीय अभिलेखों के समय तक इसका एक लंबा इतिहास रहा है।' यूनानी और ब्राह्मी-वर्णों का संबंध इससे उल्टा प्रतीत होता है। इसमें संदेह नहीं कि यूनानी वर्णमाला फोनिशियन वर्णमाला की ऋणी है। यह पहले ही सुझाया जा चुका है कि फोनिशियन(=वैदिक पणि) मूलतः भारतीय थे, जो अपने साथ भारत से लेखन-कला को ले गए थे तथा जिन्होंने पश्चिमी एसिया और यूनान में इसका प्रसार किया।

2. **सेमेटिक-मूल**-इस मत के अनेक समर्थक हैं; किंतु सेमेटिक-वर्णों की किस शाखा से ब्राह्मी-वर्ण निकले या प्रभावित हुए, इस प्रश्न पर उनमें मतभेद है। सुविधार्थ उन्हें निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

(अ) फोनिशियन-मूल-बेबर, बेन्फे, जेन्सन, बूलर प्रभृति विद्वान् ब्राह्मी-वर्णों के फोनिशियन-मूल के पोषक थे। इस मत के समर्थन में प्रमुख तर्क यह था कि 'लगभग एक-तिहाई फोनिशियन वर्ण अपने अनुरूप ब्राह्मी-चिह्नों के प्राचीनतम रूप के समान थे तथा एक-तिहाई अन्य वर्ण कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे, शेष में न्यूनाधिक समता प्रदर्शित की जा सकती है।' इस मत को स्वीकार करने में एक बड़ी आपत्ति यह है कि ब्राह्मी-लिपि के प्रादुर्भाव के समय भारत और फोनिशिया के बीच कोई सीधा संबंध नहीं था तथा फोनिशिया का प्रभाव पश्चिमी एसिया की पड़ोसी लिपियों पर प्रायः नगण्य समझा जाता था। ऐसा नहीं माना जा सकता है कि भारत तथा भू-मध्य-सागर के पूर्वी तट के मध्य 1500 ई.पू. तथा 400 के बीच कभी सीधे संबंध का अभाव रहा है। साथ ही फोनिशियन तथा ब्राह्मी-वर्णों में साम्य भी फोनिशियन लोगों के मूल से संबंधित है। टायर के विद्वान् सदैव यह मानते थे तथा यूनानी इतिहासज्ञ भी इसे स्वीकार करते थे कि फोनिशियन लोग भू-मध्य-सागर के पूर्वी तट पर समुद्रमार्ग के द्वारा पूर्व से आए थे। ऋग्वैदिक प्रमाणों से फोनिशियन लोगों का भारतीय मूल लक्षित होता है। फोनिशियन तथा पश्चिमी एसिया के सेमेटिक-वर्णों में साम्य के अभाव से भी यह सूचित होता है कि फोनिशियन लोग वहाँ बाहर से आए थे। इस प्रकार यह नितांत संभव प्रतीत होता है कि फोनिशियन वर्णमाला भू-मध्य-सागर के तट पर भारत से ले जायी गई थी।

(आ) दक्षिण सेमेटिक-मूल–टेलर, डीक तथा केनन की यह धारणा थी कि ब्राह्मी-वर्ण दक्षिणी सेमेटिक-वर्णों से निकले हैं। इस मत की पुष्टि करना दुस्साध्य है। यद्यपि भारत और अरब के बीच संबंध संभव था, क्योंकि अरब, भारत और भू-मध्य-सागर के बीच में स्थित है, परंतु भारत पर इस्लामी आक्रमण के पूर्व भारतीय संस्कृति पर अरब के प्रभाव का पता नहीं चलता। इसके अतिरिक्त ब्राह्मी-वर्णों तथा दक्षिणी सेमेटिक-वर्णों में साम्य इतना नगण्य है कि दोनों के बीच कोई संबंध बताना हास्यास्पद है।

(इ) उत्तरी सेमेटिक-मूल–इस मत के प्रमुख पोषक डॉ. बूलर हैं। दक्षिणी सेमेटिक-वर्णों से ब्राह्मी-वर्णों के निकलने की कठिनाइयों का निर्देश करते हुए बूलर ने लिखा है, 'सीधे प्राचीन उत्तरी सेमेटिक-वर्णों से जिनका फोनिशिया से लेकर मेसोपोटामिया तक समान रूप दिखाई पड़ता है, ब्राह्मी-वर्णों का उद्‌भव मानने पर ये कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। बेबर-द्वारा प्रस्तुत कतिपय मान्य समताओं का हाल ही में प्रकाश में आए हुए रूपों की सहायता से बड़ी आसानी से निराकरण किया जा सकता है, और उन सिद्धान्तों को मान्यता देना कठिन नहीं है, जिनके अनुसार, सेमेटिक-चिह्न भारतीय चिह्नों में परिवर्तित हो गए हैं।'

उत्तरी सेमेटिक-वर्णों से ब्राह्मी को व्युत्पन्न करने का प्रयास करते हुए डॉ. बूलर ने प्राचीन भारतीय वर्णों की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

1. वर्ण यथासंभव सीधे रखे जाते हैं तथा ट, ठ और ब चिह्नों के विरल अपवादों को छोड़कर उनकी ऊँचाई समान रखी जाती है।
2. अधिकांश वर्ण खड़ी रेखाओं से बने हैं। इनमें जो योग हैं, वे प्राय: नीचे, बगल में, विरल रूप से बिल्कुल ऊपर या बिल्कुल नीचे तथा शायद ही कभी मध्य-भाग में हैं; किंतु किसी भी उदाहरण में केवल शीर्ष भाग पर योग नहीं हैं।
3. वर्णों के शिरोभाग पर अधिकतर खड़ी रेखा का सिरा पाया जाता है, उससे कम छोटी आड़ी पाई, और इससे भी विरल रूप में अधोमुखी कोणों के शीर्षभाग पर वक्ररेखा, और अपवाद-स्वरूप म (˘) में और झ (˘) के एक रूप में दो ऊपर जानेवाली रेखाएँ। किसी भी उदाहरण में, लटकती हुई रेखा के साथ त्रिभुज या वृत्त के ऊपर लटकती हुई खड़ी या तिरछी रेखा की सहायता से अगल-बगल रखे गए अनेक कोणों से युक्त शीर्षभाग नहीं मिलता।

बूलर ने उपरिनिर्दिष्ट विशेषताओं की व्याख्या की तथा उत्तरी सेमेटिक-वर्णों से ब्राह्मी के निकलने के सिद्धान्त का प्रतिपादन हिंदुओं की निम्नलिखित प्रवृत्तियों के आधार पर किया–

1. एक विशिष्ट पंडिताऊ रूढ़िवादिता।
2. ऐसे चिह्नों के बनाने की इच्छा, जो यथाक्रम पंक्तियाँ बनाने में सहायक हों।
3. शीर्ष गुरु वर्णों के प्रति अरुचि। उनके मत से, 'यह विशेषता संभवत: आंशिक रूप में इस परिस्थिति के कारण है कि प्राचीन काल से ही भारतवासी अपने वर्णों के एक कल्पित या वास्तव में खींची गई रेखा से लटकाते थे तथा अंशत: स्वर-मात्राओं के कारण है, जो अधिकतर व्यंजनों के शीर्ष-भाग पर आड़ी लगाई जाती हैं। वास्तव में रेखांत शीर्षवाले चिह्न इस प्रकार

की लिपि के लिए सर्वोपयुक्त थे। हिंदुओं की इन्हीं प्रवृत्तियों और अरुचियों के कारण चिह्नों को उलट कर या पार्श्वाश्रित करके या कोण खोलकर अथवा अन्य विधियों द्वारा अनेक सेमेटिक-वर्णों के भारी शिरोभाग से छुटकारा मिल गया। अंत में लेखन की दिशा में परिवर्तन के कारण एक और परिवर्तन की आवश्यकता हुई, अर्थात् ग्रीक (लिपि) के समान चिह्नों को दाएँ से बाएँ घुमा देना पड़ा।'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर बूलर की यह मान्यता थी कि ब्राह्मी-वर्णमाला के 22 वर्ण उत्तरी सेमेटिक-वर्णमाला से और कुछ एक प्राचीन फोनिशियन वर्णमाला से, थोड़े से मेसा के प्रस्तर अभिलेख से तथा पाँच वर्ण असीरिया के बाटोंवाली लिपि से निकले हैं। ब्राह्मी के शेष चिह्न भी गृहीत चिह्नों में कतिपय परिवर्तन करके बना लिए गए हैं। तुलनात्मक फलक (सं.-3) में बूलर-द्वारा प्रस्तावित व्युत्पत्ति-पद्धति को प्रदर्शित किया गया है।

उत्तरी सेमेटिक-मूल के दूसरे प्रबल समर्थक डॉ. डेविड डिरिंजर हैं। वे लिखते हैं, 'सभी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रमाण प्राचीन अरेमिक वर्णमाला को ब्राह्मी-लिपि का पूर्व-रूप माननेवाले सिद्धान्त के पोषक हैं। ब्राह्मी-चिह्नों का फोनिशियन वर्णों से स्वीकृत साम्य प्राचीन अरेमिक वर्णों पर भी लागू होता है, जब कि मेरे विचार में किंचित् संदेह नहीं हो सकता कि सारी सेमेटिक जातियों में अरेमिक व्यापारी प्रथम थे, जो भारतीय आर्य व्यापारियों के संपर्क में आए।' वे आगे पुनः लिखते हैं, 'साठ वर्षों से अधिक हुए कि रॉयल एसियाटिक सोसाइटी के तत्कालीन सम्मानित मंत्री आर्. एन्. कस्ट ने उस सोसाइटी के जर्नल में एक लेख प्रकाशित किया था (भारतीय वर्णमाला के मूल के संबंध में जे. आर्. ए. एस्. नव-सं.-16, 1884, पृ.-325, 359)। तब से अनेक नए अन्वेषण हुए हैं तथा सैकड़ों पुस्तकों और लेखों में इस समस्या का विवेचन हुआ है, फिर भी मैं ब्राह्मी-लिपि के मूल के संबंध में आज भी उसके प्रथम दो निष्कर्षों से बहुत-कुछ सहमत हूँ–

1. भारतीय वर्णमाला किसी भी दशा में भारतीय लोगों का स्वतंत्र आविष्कार नहीं हैं, तथापि दूसरों से गृहीत ऋण को उन्होंने आश्चर्यजनक मात्रा में विकसित किया।
2. इसमें कोई तर्कपूर्ण संदेह नहीं कि स्वर और व्यंजन-ध्वनियों को विशुद्ध वर्णपरक चिह्नों द्वारा व्यक्त करने का विचार पश्चिमी एसिया से लिया गया था। (तब भी भारतीय वर्णमाला अर्ध-वार्णिक हैं, विशुद्ध वार्णिक नहीं)।

अपने मत के समर्थन में तर्क के रूप में उन्होंने इस प्रकार लिखा है–

1. 'हमें ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ब्राह्मी अरेमिक वर्णों की सीधी-सादी उत्पत्ति है। संभवतः वर्णात्मक लेखन का विचार ही था, जिसे स्वीकार किया गया था, यद्यपि अनेक ब्राह्मी-चिह्नों के आकार सेमेटिक प्रभाव सूचित करते हैं तथा ब्राह्मी-वर्णों की दाएँ से बाएँ लिखने की मूल विशेषता भी सामी थी।'
2. कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि भारतीय लिपि देखने में अक्षरात्मक है। अतएव यह किसी भी वर्णमाला से नहीं निकली होगी, क्योंकि वर्णात्मक लिपि अक्षरात्मक लिपि की अपेक्षा स्पष्टतः अधिक उन्नत होती है। ये विद्वान् यह सत्य भूल जाते हैं कि सामी वर्णमाला में स्वर नहीं थे और आवश्यकतावश सामी भाषाएँ स्वर-चिह्नों के बिना भी काम चला सकती थी,

जबकि भारोपीय भाषाएँ ऐसा नहीं कर सकती थीं। यूनानियों ने इस समस्या का संतोषप्रद समाधान निकाला था, किंतु भारतीय लोग कम सफल रहे। यह संभव है कि ब्राह्मी का आविष्कारक वर्णात्मक लेखन-पद्धति के तत्त्व को न समझ पाया हो। यह नितांत संभव है कि सामी-लिपि उसे अर्धाक्षरात्मक प्रतीत हुई हो, जैसी कि किसी भी भारतीय आर्यभाषा के बोलनेवाले को प्रतीत हो सकती थी।'

ब्राह्मी-वर्णों के उत्तरी सेमेटिक-मूलवाले सिद्धान्त के विवेचन के पूर्व सेमेटिक और ब्राह्मी-वर्णों के तुलनात्मक फलक का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है–

1. सेमेटिक और ब्राह्मी-वर्णों में साम्य है।
2. प्राचीन भारतीय लिपि चित्रपरक थी; कोई भी वर्णात्मक लिपि चित्रवर्णों से नहीं निकल सकती।
3. ब्राह्मी मूलत: दाएँ से बाएँ लिखी जाती होगी।
4. भारत में ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी से पूर्व लिपि के उदाहरणों का अभाव है।

इन तर्कों का क्रमश: विवेचन करना आवश्यक है। इसमें संदेह नहीं कि उत्तरी-पश्चिमी एसिया के फोनिशियन तथा अरेमिक वर्णों और भारत की ब्राह्मी-लिपि में थोड़ी-सी समानता तो है, किंतु बूलर तथा उसके विचार-संप्रदाय के अन्य विद्वानों का यह मत कि ब्राह्मी उत्तर-पश्चिमी एसिया की अरेमिक वर्णमाला से निकली है, प्रमाणित नहीं किया जा सकता। बूलर-द्वारा प्रस्तावित व्युत्पत्ति-पद्धति विशेष रूप से तर्कहीन है और यदि उसे ठीक मान लिया जाए तो ब्राह्मी-वर्ण फोनिशियन और अरेमिक से ही नहीं, अपितु संसार के किसी भी ज्ञात वर्णों से निकाले जा सकते हैं।

दोनों वर्णमालाओं में साम्य का कारण यह था कि फोनिशियन मूलत: भारत के ही थे। फोनिशियन लोग अपने साथ भारतीय वर्णमाला को सुदूर उत्तरी-पश्चिमी एसिया में ले गए, किंतु वे सेमेटिक लोगों से घिरे हुए थे, इसलिए उनके वर्णों में एक बडा़ परिवर्तन हुआ, यद्यपि उन्होंने अरेमिक कहे जानेवाले उत्तरी सेमेटिक-वर्णों को भी, जिन्होंने दक्षिणी सेमेटिक और मिस्र के वर्णों को प्रेरणा प्रदान की थी, प्रभावित किया। इस प्रकार यदि आकार या प्रेरणा में किसी प्रकार का अनुकरण हुआ तो फोनिशियन या अरेमिक वर्णों ने ही ब्राह्मी के पूर्व-रूप से कुछ तत्त्वों को ग्रहण किया; इसका उलटा नहीं हुआ।

जहाँ तक दूसरे तर्क का संबंध है, इसका यह आधार ही भ्रमपूर्ण है कि कोई वर्णात्मक लिपि किसी चित्रात्मक लिपि से नहीं निकल सकती। इसमें किंचित् संदेह नहीं कि सभी प्राचीन लिपियाँ स्वभावत: चित्रात्मक थीं। 'मनुष्य ने चित्र-लेखन से लिखना आरंभ किया जैसा कि एक बालक करना पसंद करता है।' निश्चय ही यह एक भिन्न विषय है कि चित्र-वर्णों के आविष्कारकों में किन-किन चित्र-वर्णों से विशुद्ध वर्णों का विकास कितनी पूर्णता के साथ कर सके। दूसरे, भारत में सिंधुघाटी के लेखों से प्राप्त होनेवाले लेखन के प्राचीनतम उदाहरण पूर्ण चित्रात्मक नहीं हैं; अधिकांश ध्वनिपरक और अक्षरात्मक हैं तथा उनका झुकाव वर्णात्मकता की ओर है। इसके अतिरिक्त अनेक चिह्न, जिन्हें भ्रमवश चित्र-वर्ण माना जाता है, वास्तव में ध्वनि-व्यंजक चिह्नों के योग मात्र हैं। इसलिए सिंधुघाटी की लिपि से ब्राह्मी की निष्पत्ति का किसी भी अवस्था में निराकरण नहीं किया जा सकता।

तीसरा तर्क कि ब्राह्मी आरंभ में दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी तथा यह सत्य ब्राह्मी के सेमेटिक-मूल निदर्शक है, निर्बल तथा संदिग्ध सामग्री पर आधारित है। जिस समय बूलर ने अपनी 'इंडियन स्टडीज' में लिखा और 'इंडियन पेलियोग्रैफी' प्रकाशित की, उस समय दाएँ से बाएँ को लिखी गई ब्राह्मी के निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध थे :

1. अशोक के अभिलेखों के कतिपय वर्ण,
2. मध्य-प्रदेश के जबलपुर जिले के एरण से कनिंघम-द्वारा प्राप्त सिक्कों पर के अभिलेख।

इसके अतिरक्त मद्रास प्रेसिडेंसी के कर्नूल जिले से प्राप्त अशोक के लघु शिलालेख का यर्रगुड़ी संस्करण भी उल्लेखनीय है। बूलर ऊपर के दो उदाहरणों को उन तर्कों कीशृंखला की खोई हुई कड़ी समझते हैं, जिनसे दाएँ से बाएँ को लिखे जानेवाले सेमेटिक-वर्णों से ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध होती है। किंतु बूलर-द्वारा प्राप्त यह कड़ी अत्यंत निर्बल प्रतीत होती है। प्रथम, सभी उदाहरण बिखरे हुए तथा समकालीन बाएँ से दाएँ को लिखे गए अभिलेखों की बहुत बड़ी संख्या की तुलना में अत्यल्प हैं। वर्णों के कुछ अनियमित रूप, जो आगे चलकर स्थिर हो गए, वर्णों की अस्थिर दशा के बोधक हैं, किसी विदेशी स्रोत से उनके उद्‌गम के नहीं। दूसरे, सिक्कों पर के अभिलेख कभी-कभी साँचा बनानेवाले की गलती से भी उलट जाते हैं, जो साँचे पर भूल से सीधे वर्ण खोद देता है, अत: जब-तक अधिकतर उदाहरणों के साथ उनकी समानता नहीं सिद्ध होती, वे लेखन की दिशा के निश्चित परिचायक नहीं हैं। यही कारण है कि हुल्श और फ्लीट बूलर के निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं। जहाँ तक अशोक के लघु शिलालेख के यर्रगुडी संस्करण का प्रश्न है, यह एक विलक्षण उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि खोदनेवाला बाएँ से दाएँ को लिखी जानेवाली ब्राह्मी-पद्धति से अभ्यस्त होने पर भी एक नया प्रयोग कर रहा था। उसने प्रथम पंक्ति बाएँ से दाएँ को और दूसरी दाएँ से बाएँ को लिखी है तथा इसी प्रकार एक छोड़ कर दूसरी पंक्ति की दिशा बदलते हुए लेखन जारी रखा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वह किसी नियमित या स्थिर पद्धति का अनुसरण नहीं कर रहा था, अपितु एक नए प्रयोग का प्रयास कर रहा था। इसके अतिरिक्त दाई ओर से बाई ओर को लिखी गई पंक्तियों में केवल वर्णों का स्थान बदल दिया गया था, उनका रूप नहीं, जिससे प्रतीत होता है कि यह एक बलात् और कृत्रिम लेखन था एवं ब्राह्मी-वर्णमाला के मूल से इसका कोई संबंध नहीं है।

चौथा तर्क पाँचवीं शताब्दी ई.पू. तथा चौथी सहस्राब्दी ई.पू., जो सिंधुघाटी की लिपि का समय है, के बीच लेखन के उदाहरणों की अनुपस्थिति से संबंधित है। वास्तव में सभी पुरातात्त्विक प्राप्तियाँ सांयोगित हैं; और जब-तक उत्तरी भारत के सभी प्राचीन नगरों की खुदाई नहीं होती, कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि इस सुदीर्घ काल में लेखन-कला विद्यमान् नहीं थी। भारतीय इतिहास के सहस्रों वर्षों तक जानेवाले प्राग्बौद्धकाल में लेखन की विद्यमान्ता के सूचक साहित्यिक प्रमाण कम नहीं हैं। बूलर ने भी इसकी सबलता को निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया है–'यह अनुमान कि कोई वैदिक ग्रंथ, जिसमें लेखन का निर्देश नहीं है, अवश्य ही उस समय रचा गया होगा, जबकि लेखन भारत में अज्ञात था, त्याग देना चाहिए।' व्यक्तियों, श्रेणियों तथा देवताओं के नामों से युक्त लेखन-सामग्री कठोर होने के कारण बचे हुए सिंधुघाटी के छिटपुट अभिलेख यह सिद्ध करते हैं कि भारत में प्राप्त कोमल नाशवान पदार्थों पर भी लेखन अवश्य होता था।

तीसरा तर्क कि ब्राह्मी आरंभ में दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी तथा यह सत्य ब्राह्मी के सेमेटिक-मूल निदर्शक है, निर्बल तथा संदिग्ध सामग्री पर आधारित है। जिस समय बूलर ने अपनी 'इंडियन स्टडीज' में लिखा और 'इंडियन पेलियोग्रैफी' प्रकाशित की, उस समय दाएँ से बाएँ को लिखी गई ब्राह्मी के निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध थे :

1. अशोक के अभिलेखों के कतिपय वर्ण,
2. मध्य-प्रदेश के जबलपुर जिले के एरण से कनिंघम-द्वारा प्राप्त सिक्कों पर के अभिलेख।

इसके अतिरिक्त मद्रास प्रेसिडेंसी के कर्नूल जिले से प्राप्त अशोक के लघु शिलालेख का यर्रगुड़ी संस्करण भी उल्लेखनीय है। बूलर ऊपर के दो उदाहरणों को उन तर्कों की शृंखला की खोई हुई कड़ी समझते हैं, जिनसे दाएँ से बाएँ को लिखे जानेवाले सेमेटिक-वर्णों से ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध होती है। किंतु बूलर-द्वारा प्राप्त यह कड़ी अत्यंत निर्बल प्रतीत होती है। प्रथम, सभी उदाहरण बिखरे हुए तथा समकालीन बाएँ से दाएँ को लिखे गए अभिलेखों की बहुत बड़ी संख्या की तुलना में अत्यल्प हैं। वर्णों के कुछ अनियमित रूप, जो आगे चलकर स्थिर हो गए, वर्णों की अस्थिर दशा के बोधक हैं, किसी विदेशी स्रोत से उनके उद्‌गम के नहीं। दूसरे, सिक्कों पर के अभिलेख कभी-कभी साँचा बनानेवाले की गलती से भी उलट जाते हैं, जो साँचे पर भूल से सीधे वर्ण खोद देता है, अतः जब-तक अधिकतर उदाहरणों के साथ उनकी समानता नहीं सिद्ध होती, वे लेखन की दिशा के निश्चित परिचायक नहीं हैं। यही कारण है कि हुल्श और फ्लीट बूलर के निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं। जहाँ तक अशोक के लघु शिलालेख के यर्रगुडी संस्करण का प्रश्न है, यह एक विलक्षण उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि खोदनेवाला बाएँ से दाएँ को लिखी जानेवाली ब्राह्मी-पद्धति से अभ्यस्त होने पर भी एक नया प्रयोग कर रहा था। उसने प्रथम पंक्ति बाएँ से दाएँ को और दूसरी दाएँ से बाएँ को लिखी है तथा इसी प्रकार एक छोड़ कर दूसरी पंक्ति की दिशा बदलते हुए लेखन जारी रखा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वह किसी नियमित या स्थिर पद्धति का अनुसरण नहीं कर रहा था, अपितु एक नए प्रयोग का प्रयास कर रहा था। इसके अतिरिक्त दाईं ओर से बाईं ओर को लिखी गई पंक्तियों में केवल वर्णों का स्थान बदल दिया गया था, उनका रूप नहीं, जिससे प्रतीत होता है कि यह एक बलात् और कृत्रिम लेखन था एवं ब्राह्मी-वर्णमाला के मूल से इसका कोई संबंध नहीं है।

चौथा तर्क पाँचवीं शताब्दी ई.पू. तथा चौथी सहस्राब्दी ई.पू., जो सिंधुघाटी की लिपि का समय है, के बीच लेखन के उदाहरणों की अनुपस्थिति से संबंधित है। वास्तव में सभी पुरातात्त्विक प्राप्तियाँ सांयोगित हैं; और जब-तक उत्तरी भारत के सभी प्राचीन नगरों की खुदाई नहीं होती, कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि इस सुदीर्घ काल में लेखन-कला विद्यमान् नहीं थी। भारतीय इतिहास के सहस्रों वर्षों तक जानेवाले प्राग्बौद्धकाल में लेखन की विद्यमान्ता के सूचक साहित्यिक प्रमाण कम नहीं हैं। बूलर ने भी इसकी सबलता को निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया है–'यह अनुमान कि कोई वैदिक ग्रंथ, जिसमें लेखन का निर्देश नहीं है, अवश्य ही उस समय रचा गया होगा, जबकि लेखन भारत में अज्ञात था, त्याग देना चाहिए।' व्यक्तियों, श्रेणियों तथा देवताओं के नामों से युक्त लेखन-सामग्री कठोर होने के कारण बचे हुए सिंधुघाटी के छिटपुट अभिलेख यह सिद्ध करते हैं कि भारत में प्राप्त कोमल नाशवान पदार्थों पर भी लेखन अवश्य होता था।

5. वैयाकरणों की शिक्षा के अनुसार, जो प्रत्येक व्यंजन में ह्रस्व 'अ' को विद्यमान् मानते है, ह्रस्व 'अ' की मात्रा का लोप।

यह सब देखने में इतना विद्वत्तापूर्ण, किंतु कृत्रिम है कि इसका आविष्कार केवल पंडितों द्वारा हो सकता था, व्यापारियों और लिपिकों द्वारा नहीं।'

उस जाति को जो वैज्ञानिक शिक्षा और व्याकरण के विकास की विलक्षण प्रतिभा से संपन्न हो तथा जो अपने आधे से अधिक वर्णों को जन्म देने में समर्थ हो, दरिद्र और दोषपूर्ण सेमेटिक-वर्णों की ओर ऋण के लिए देखने की आवश्यकता नहीं हो सकती। यह विशेषत: विस्मयजनक प्रतीत होता है कि इन तथ्यों के होते हुए बूलर यह मानते थे कि भारतीयों ने अपने वर्णों को सेमेटिक-वर्णों से ग्रहण किया।

किसी वर्णमाला के विकास के विभिन्न सूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी-वर्ण, भाषाशास्त्र की दृष्टि से अन्य देशों के वर्णों की तुलना में अधिक उन्नत तथा लेखन के परिसूचक बृहत् वैदिक साहित्य के स्रष्टा भारतीय लोगों की प्रतिभा की उपज हैं। ब्राह्मी चित्रलेखों (पिक्टोग्राफ) भावलेखों (ईडियोग्राफ) तथा ध्वन्यात्मक चिह्नों (फोनेटिक साइन) से, जिनके प्राचीनतम उदाहरण सिंधुघाटी के अभिलेखों में प्राप्त होते हैं, प्रादुर्भूत हुई।

अभिलेखों का महत्त्व

पाश्चात्य विद्वानों का यह मत रहा है कि प्राचीन भारत में व्यवस्थित और क्रमबद्ध इतिहास की उपेक्षा भारतीयों की एक बहुत बड़ी कमी थी। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता है, किंतु कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' (1150 ई.), बिल्हण की 'विक्रमाङ्कदेवचरित' (11वीं शताब्दी का अंतिम भाग), बाण के 'हर्षचरित' (7वीं शताब्दी पूर्वार्ध) आदि ग्रंथों से पता चलता है कि प्राचीन भारत में भी राजाओं के चरित्रों और ऐतिहासिक वृत्तों को लेखनी-बद्ध करने की परंपरा रही होगी। स्वयं कल्हण को कम-से कम 12 ऐतिहासिक ग्रंथों का पता था, जिनमें से अब केवल एक के ही कुछ अंश प्राप्त हैं। इससे सिद्ध होता है कि बहुत से ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे तो गए, परंतु इस देश के उष्ण और आर्द्र जलवायु के कारण वे नष्ट हो गए। अत: 18वीं शताब्दी के अंत और 19वीं शताब्दी में जब पाश्चात्य विद्वानों ने भारत के इतिहास-लेखन का बीड़ा उठाया तो उन्हें प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथों के अभाव का खटकना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन अभिलेखों, सिक्कों, पत्थर और धातु की मूर्तियों, उत्खनन में मिलनेवाली वस्तुओं और खंडहरों आदि को ऐतिहासिक सामग्री के रूप में अपनाया। इनमें पत्थर और ताम्रपत्रों पर लिखे अभिलेखों का विशेष महत्त्व है। देवानां प्रिय प्रियदर्शी अशोक के अभिलेख (तीसरी शताब्दी ईसापूर्व), खारवेल का हाथीगुम्फा-अभिलेख (प्रथम शताब्दी ईसापूर्व), रुद्रदामा का गिरनार-अभिलेख (150 ई.) समुद्रगुप्त का प्रयाग-स्तंभाभिलेख (चौथी शताब्दी), पुलिकेशी-2 का ऐहोलअभिलेख (634 ई.) इत्यादि तो कुछ ऐसे अभिलेख हैं, जिन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास का ढाँचा खड़ा करने में विशेष सहायता प्रदान की। अनेक छोटे-बड़े शासकों के इतिहास का पुनर्निर्माण तो केवल अभिलेखीय सामग्री के आधार पर ही संभव हो सका है। उदाहरण के लिए 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण से पूर्व बुद्धगुप्त नामक सम्राट् का भारतीय इतिहास में नाम तक उपलब्ध न था। इस महान् गुप्त-सम्राट् का इतिहास 1838 में एरन से प्राप्त अभिलेख, 1894 में मिले उसके चाँदी के सिक्कों, 1914-15 में सारनाथ और बनारस से प्राप्त दो

अभिलेखों, 1919-20 में दामोदरपुर (दीनाजपुर) से प्राप्त दो ताम्रपत्र-अभिलेखों और 1943 में नालंदा से मिली मिट्टी की क्षतिग्रस्त सील के अध्ययन से प्रकाश में आया है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय इतिहास, भूगोल इत्यादि की प्रामाणिक जानकारी के लिए अभिलेख एक अमूल्य निधि हैं। इनका महत्त्व निम्न क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–

(क) राजनीतिक इतिहास–अभिलेखों से प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास पर पड़नेवाले प्रकाश के संबंध में हम निम्नलिखित बातों पर विचार कर सकते हैं–

1. **वंशावलियाँ**–अभिलेखों के परिशीलन से तत्संबंधी राजाओं की वंशावलियों का पता चला है। सर्वप्रथम हमें **रुद्रदामा** के गिरनार-अभिलेख में रुद्रदामा के साथ उसके दादा चष्टन और पिता जयदामा के नामों की जानकारी प्राप्त हुई है। गुप्तकालीन अभिलेखों में वंशावलियों के वर्णन पर विशेष ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिए समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उसके परदादा गुप्त, दादा घटोत्कच और पिता चंद्रगुप्त के अतिरिक्त उसके नाना लिच्छवि और माता कुमार देवी के नामों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार स्कंदगुप्त के भितरी-स्तंभाभिलेख में वंश के संस्थापक गुप्त से लेकर स्कंदगुप्त तक सभी सम्राटों के नाम क्रमशः दिए हैं। चन्द्रगुप्त-1 से लेकर तो उनकी रानियों के नाम भी दिए गए हैं। श्रीहर्ष के बाँसखेड़ा-ताम्रपत्र पर नरवर्द्धन से लेकर उसके सभी पूर्वजों के नाम उनकी रानियों के नामों सहित अंकित हैं। इस प्रकार की वंशावलियों से राजाओं के वंशानुक्रम और कालक्रम को निश्चित करने में बहुत सहायता मिली है।

2. **विजयवर्णन**–अभिलेखों में राजाओं ने अपनी विजयों का वर्णन भी किया है। कुछ अभिलेख तो विजय-स्मृति के रूप में ही लिखे गए प्रतीत होते हैं। चन्द्र का महरौली-लौहस्तंभ एक विजय-स्तंभ ही प्रतीत होता है। इसपर चन्द्र के दिग्विजय का वृत्तांत मरणोपरांत उसके उत्तराधिकारी-द्वारा लिखवाया गया प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उसके दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है। **रुद्रदामा** के गिरनार-अभिलेख में उसके द्वारा यौधेयों के उत्सादन और दक्षिणाधिपति शातकर्णि को दो बार विजित करके छोड़ देने का स्पष्ट उल्लेख है। चाहमान-वंशी विग्रहराज वीसलदेव ने भी हिमालय और विंध्य के अंतराल की अपनी विजय की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए इसे टोपरा-स्थित अशोक के प्रस्तर-स्तंभ पर अंकित कराया था।

3. **शासन-प्रबंध**–अभिलेखों से उनमें वर्णित शासकों के शासन-प्रबंध पर भी प्रकाश पड़ता है। मौर्य-सम्राटों की शासन-व्यवस्था का ज्ञान अशोक के अभिलेखों से होता है। गुप्त-अभिलेखों में गुप्त-सम्राटों की शासन-पद्धति की विशद जानकारी उपलब्ध होती है। उनका राज्य अनेक प्रांतों में विभक्त होता था। प्रांतीय शासक राष्ट्रिक, भोगिक, भोगपति, गोप्ता इत्यादि अनेक नामों से पुकारे जाते थे। स्कंदगुप्त के **गिरनार-अभिलेख** में प्रशासनिक अधिकारियों की एक लंबी सूची मिलती है। दक्षिण भारत में नालूर और मेरूर नामक स्थानों से प्राप्त दो अभिलेखों से मध्ययुग के आरंभ में वहाँ की ग्राम-शासन-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। मेरूर के अभिलेख से तो उस काल में प्रचलित प्रजा-तंत्र शासन-पद्धति की पूरी जानकारी मिलती है। अशोक के अभिलेखों और समुद्रगुप्त की **प्रयागप्रशस्ति** से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक ऐसे राज्य थे, जिनमें गणतंत्रात्मक शासन-पद्धति प्रचलित थी। साम्राज्यवादी मौर्य और गुप्तों ने उनको नष्ट

करके अपने साम्राज्यों की स्थापना की। अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि शासक शासन-व्यवस्था के लिए प्रजा से कर वसूल करते थे। गुप्तकालीन और उसके पश्चात् के अभिलेखों से पता चलता है कि उपज का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। कर वसूल करनेवाला अधिकारह, पष्ठाधिकृत इत्यादि नामों से पुकारा जाता था। कर के अतिरिक्त चुंगी (विष्टि), बेगार (प्रणयक्रिया) इत्यादि भी लेने के संकेत भी अभिलेखों में मिलते है।

4. व्यक्तिगत चरित्र–शासकों के व्यक्तिगत चरित्र पर भी अभिलेखों के अध्ययन से विशेष प्रकाश पड़ता है। **प्रयाग-प्रशस्ति** में समुद्रगुप्त के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि धनद, वरुण, इंद्र, यम-सदृश वह अपने भुजबल से विजित अनेक राजाओं की संपत्ति लौटाने वाला, तीक्ष्ण एवं विदग्धमति, गान्धर्वविद्या इत्यादि के द्वारा इंद्र के गुरु बृहस्पति, तुम्बुरु, नारद इत्यादि को लजराने वाला और विद्वज्जनों की उपजीव्य अनेक काव्य-क्रियाओं से प्रतिष्ठित कवि-राज शब्दवाला था। इसी प्रकार महरौली लौहस्तंभाभिलेख और ऐहोल अभिलेख (111ई.) से क्रमशः चन्द्र और पुलिकेशी-1 के व्यक्तिगत चरित्र पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। गिरनार-शिलाभिलेख (111ई.) से रुद्रदामा के व्यक्तिगत चरित्र पर विशेष प्रकाश पड़ता है। ऐसे अभिलेखों की संख्या बहुत अधिक है।

5. सामाजिक अवस्था–अभिलेखों में प्रसंगवश यत्र-तत्र वर्णाश्रम-धर्म के उल्लेखों में उनकी वैदिक शाखा, गोत्र इत्यादि का भी उल्लेख हुआ है। षट्-कर्म के अतिरिक्त वे मध्यकाल में पुरोहित, मंत्री और सेनापति आदि के कार्य भी करने लगे थे। सातवीं शती से लेकर शासन-विषयक अभिलेखों में क्षत्रियों का उल्लेख मिलता है। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण वे समाज में अग्रणी हो गए थे। उन्हें कुशल प्रशंसक बनने की समुचित शिक्षा दी जाती थी। वैश्यों का उल्लेख गुप्तकाल के उत्तरवर्ती अभिलेखों में कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि के प्रसंग में आता है। अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि उसने शुद्रों से समुचित व्यवहार करने का आदेश दिया था। अभिलेखों में कायस्थ, चांडाल आदि जातियों का भी उल्लेख हुआ है।

आश्रम-व्यवस्था के भी संकेत मिलते हैं। राजा लोग एक से अधिक विवाह कर सकते थे। सती-प्रथा के प्रचलन का भी संकेत उपलब्ध है। मनोरंजन के साधनों में मृगया, संगीत, द्यूत-कीड़ा इत्यादि का उल्लेख है। कुषाण और शक-शासकों के अभिलेखों से पता चलता है कि उन्होंने हिंदु-धर्म, संस्कृति और भाषा से प्रभावित होकर हिंदु-नामों और रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लिया था। उन्होंने यहाँ के शासकों के साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित किए।

6. आर्थिक अवस्था–दानपत्रों के विवरणों से सुदृढ़ आर्थिक स्थिति का पता चलता है। प्रशस्तियों में सभी प्रकार के अन्नों तथा फलों का उल्लेख मिलता है। **नालन्दा-ताम्रपत्र के सम्यग् बहुधृतब हृदधिमिर्व्यञ्जनैर्युक्तमन्नम्** इस वचन से भोजन के उच्च स्तर का पता चलता है। कृषि-कर्म में सिंचाई के लिए झील, तालाब, नहर इत्यादि के निर्माण के उल्लेख अभिलेखों में उपलब्ध हैं। रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त के गिरनार-स्थित अभिलेखों से पता चलता है कि मौर्य चन्द्रगुप्त-द्वारा निर्मित तथा अशोक-द्वारा प्रणाली आदि की व्यवस्था से संपन्न सुदर्शन नामक तालाब का रुद्रदामा और स्कन्दगुप्त-द्वारा पुनः संस्कार कराया गया था। सातवाहन नरेश पुलुमावि-द्वारा सिंचाई के लिए तालाब बनवाने का उल्लेख उसके लेखों में है। गुप्त-सम्राटों के

अभिलेखों से पता चलता है कि उन्होंने सिंचाई के लिए नहरें बनवाने की ओर विशेष ध्यान दिया। व्यापार के क्षेत्र में निगमों और श्रेणियों का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है। कुमारगुप्त के मन्दसौर-स्थित **पट्टवायश्रेणी-अभिलेख** में श्रेणी-द्वारा सूर्य-मंदिर का निर्माण और उसके पुनरुद्धार का वर्णन है। उनके द्वारा बुने रेशम की देश-विदेश में सर्वत्र धूम थी। अभिलेखों में श्रेणियों/निगमों द्वारा बैंक-कार्य का भी संकेत मिलता है।

7. धार्मिक स्थिति और सहिष्णुता–अभिलेखों से विभिन्न कालों में धार्मिक स्थिति का विशद विवरण प्राप्त होता है। अशोक के अभिलेखों से विदित होता है कि उसके काल में बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार था और वह स्वयं इस धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित था। उदयगिरि के गुहालेखों से ओडिशा में जैनमत के प्रचार का पता चलता है। चन्देला राज्य के मुख्य नगर खजुराहो के लेख और प्रतिमाओं से भी वहाँ जैनमत के प्रचार का पता चलता है। गुप्तकालीन अभिलेखों से विदित होता है कि गुप्त-सम्राट् वैष्णव धर्म के अनुयायी थे और उस काल में भागवत-धर्म का प्रधान्य था।

विभिन्न अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि विभिन्न कालों में विविध स्थानों पर सूर्य, शिव, शक्ति, गणेश इत्यादि की पूजा होती थी। इसके अतिरिक्त यज्ञ, दान, मंदिर-निर्माण, मंदिर-जीर्णोद्धार, प्रतिमास्थापन, देव-पूजन, उत्सव, व्रत, तीर्थयात्रा इत्यादि का वर्णन भी अभिलेखों में मिलता है।

अभिलेखों के अध्ययन से धार्मिक सहिष्णुता और सांप्रदायिक सद्भाव का पूर्ण परिचय मिलता है। अशोक ने अपने 12वें शिलाभिलेख में आदेश दिया है कि सब मनुष्य एक-दूसरे के धर्म को सुनें और सेवन करें (**अञमञम ध्रमो श्रुणेयु च सुश्रु षेयु च ति**)। सातवाहनों के अभिलेखों में वैदिक यज्ञों के साथ बौद्धसंघ को गुहादान का भी उल्लेख है। गुप्त सम्राट् भागवत-धर्मानुयायी होकर भी शैव, जैन आदि मतावलंबियों को उच्चपदों पर नियुक्त करते थे। पालवंशी राजा बौद्ध धर्मावलंबी होकर भी ब्राह्मणों को दान देते थे और मंदिरों का निर्माण करते थे। किसी भी अभिलेख में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जिससे किसी प्रकार के सांप्रदायिक विद्वेष का पता चलता हो।

8. भूगोल–प्राचीन भारतीय भूगोल की जानकारी के लिए भी अभिलेखीय सामग्री का विशेष महत्त्व है। अभिलेखों से राजाओं के राज्य-विस्तारों, सीमाओं, विजयाभियानों और यात्रा-मार्गों का पता चलता है। विभिन्न नगरों, पर्वतों और नदियों आदि की स्थिति का भी ज्ञान होता है। अशोक के 13वें शिलाभिलेख से पता चलता है कि उसके साम्राज्य की सीमाओं से परे छह सौ योजन तक अन्तियोक नामक राजा का शासन था। उससे परे तुरमाय, अंतेकिन, मका और अलिकसुंदर नामक चार विदेशी राजाओं के राज्य थे। नीचे (दक्षिण में) चोल, पांड्य आदि राज्य थे। यवन, कम्बोज, नाभक, नाभपंति, भोज, पैत्रवणिक, आंध्र और पुलिन्द आदि जनपद उसके अपने ही साम्राज्य के अन्तर्गत थे। पूर्व में धौली से लेकर उत्तर-पश्चिम में पेशावर और कंधार तक मिले उसके अभिलेख स्वयं अपनी स्थिति से उसके राज्य-विस्तार की सूचना दे रहे हैं। रुद्रदामा के गिरनार शिलाभिलेख (150 ई.) में उसके राज्य के अन्तर्गत 12 प्रदेशों के नामों का उल्लेख है। अभिलेखों से दो राज्यों और जनपदों की सीमाओं को निर्धारित करने में भी सहायता मिलती है।